

कोरोना पर जीत के दीये जलाने का संघर्ष अभी बाकी है !



नौ मिनट का पूर्ण (या आंशिक भी) अंधकार अगर मांग कर लिया गया हो तो कितना 'लम्बा' या 'छोटा' लग सकता है रविवार की रात करोड़ों देशवासियों ने महसूस कर लिया। यह एक अघोषित प्रयोग भी हो सकता है कि बगैर रोशनी के हम कितनी देर तक बिना डरे या परेशान हुए रह सकते हैं। 'अनिवार्य' श्रद्धांजलि सभाओं में दो मिनट का मौन क्या पूरे दो मिनट चल पाता है या अधिकांश लोग कनखियों से आसपास देखने लगते हैं ? ताज़ा मामले में भी हो सकता है कि यह देखा गया हो कि पड़ोस में वापस रोशनी हो गई या नहीं वरना हमारे बारे में कुछ कुछ सोचा जाने लगेगा।

समय किस कालखंड में लम्बा और किसमें छोटा लग सकता है इसे लेकर आम आदमी का चिंतन काफ़ी सीमित है। जैसे कि ध्रुवों पर रहने वाले प्राणियों के लिए उजाले और अंधेरे के कालखंड बाकी दुनिया से अलग हैं। आँख बंद करके कुछ क्षणों के लिए अपनी मर्ज़ी से बैठ जाने और किसी के कहने पर बैठने के बीच अंधेरे-उजाले जितना ही वैचारिक फ़र्क है। सर्वोदय दर्शन के प्रसिद्ध भाष्यकार दादा धर्माधिकारी कहते थे कि किसी दूसरे के द्वारा बताया गया आराम भी काम होता है और खुद की मर्ज़ी के किया जाने वाला काम भी आराम होता है। अभी गणना होना शेष है कि हममें से कितनों ने काम या आराम किया।

एक राष्ट्र के रूप में हमें इस तरह से रोशनी बंद करके दीयों या अपने अंदर के प्रकाश के बीच ही कुछ वक्त बिताने का अभ्यास नहीं करवाया जाता। इसीलिए जब प्रधानमंत्री ने नौ मिनट के अंधकार का आह्वान किया तो कच्चे धागे पर टिकी व्यवस्था की सारी सिलाई उधड़ने लगी। कहा जाने लगा कि ऐसा करने से दस से बारह हज़ार मेगावाट पावर की माँग एकदम ख़त्म हो जाएगी और इस बची एनर्जी को संचित करके रखने की हमारे पास कोई व्यवस्था नहीं है। महाराष्ट्र के एक मंत्री ने यह कहते हुए आपत्ति ली कि इस एक कदम से 'लॉक डाउन' के दौरान आवश्यक सेवाओं की समस्त आपूर्ति ठप्प पड़ जाएगी।

नौ मिनट के आरोपित या स्व-स्वीकारित अंधकार ने जनता के साथ-साथ दिल्ली के नीति-निर्धारकों को भी शायद यह समझने का मौक़ा दिया हो कि देश के कोई तीन करोड़ 'घर' अभी भी बिना बिजली के अंधकार में जी रहे हैं। यानी कि उन्हें नौ मिनट के लिए भी बिजली नसीब नहीं है। वर्ष 2017 के आँकड़ों के मुताबिक, दुनिया में बिजली की रोशनी के बिना रहने वाले प्रत्येक पाँच लोगों में एक भारत का है। सदियों से झोपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोग अंधेरे में रहने के वैसे ही अभ्यस्त हो गए हैं जैसे कि हम रोशनी के। कोरोना शायद अभी इनके बिना दरवाज़ों की झोपड़ियों तक नहीं पहुँचा है।

इसी के साथ-साथ ऐसे अभागे मानवों की भी कल्पना की जा सकती है जो अपनी एक उम्र तक तो सबकुछ ठीक से देखते रहते हैं और फिर अचानक से आँखों के आगे अंधकार छाने लगता है। वर्ष 1998 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले पुर्तगाल के साहित्यकार जोस अरामागो का उपन्यास 'ब्लाइंडनेस' एक शहर के ऐसे ही लोगों की कहानी है जो एक-एक करके देखना बंद कर देते हैं।

दुनिया के दूसरे देशों को स्व-प्रेरणा से इस तरह अंधकार करके जीने का अभ्यास इसलिए है और हमें नहीं कि जब वे दो विश्वयुद्धों की विभीषिका से गुजर रहे थे हम पूरी रोशनी में अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ रहे थे। वर्ष 1914 में जिस समय गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे लगभग उसी समय प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ था। कई देश तो कोरोना संकट में भी लड़ाइयों में जुटे हुए हैं। हम भाग्यशाली हैं।

प्रधानमंत्री के नौ मिनट के आह्वान की चुनौती को इस रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है कि कोरोना पर जीत अभी दीयों, मोमबत्तियों और टॉर्च की रोशनी जितनी ही हासिल हुई है। दीपावली जैसी रोशनी का जश्न मनाने के लिए देश के नागरिकों को काफ़ी संघर्ष भी करना पड़ेगा और त्याग भी करना पड़ेगा।

(लेखक कई समाचार पत्रों के संपादक रह चुके हैं व राजनतिक विश्लेषक हैं)